

देशज शिक्षा, औपनिवेशिक विरासत और जातीय विकल्प

□ सुरेश पंडित

भारत में ब्रिटिश-पूर्व, ब्रिटिश कालीन और स्वतंत्र्योत्तर शिक्षा प्रणालियों का तुलनात्मक विश्लेषण करने वाले शिक्षाविदों में परमेश आचार्य का प्रतिष्ठित स्थान है। 'विमर्श' के पाठक उनके कुछ लेख शुरु में पढ़ चुके हैं। उन्होंने योजनाबद्ध रूप से पश्चिम बंगाल को आधार मानकर शिक्षा पर औपनिवेशिक प्रभावों का प्रामाणिक अध्ययन किया है। उनके लेख अंग्रेजी अकादमिक पत्रिका 'इकॉनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली' में छपते रहे हैं। हाल ही में ग्रंथ शिल्पी ने उनके 10 लेखों का पुस्तकाकार संकलन प्रकाशित किया है। इस पुस्तक की यहां समीक्षा दी जा रही है। उम्मीद है यह पुस्तक हिन्दी के शैक्षिक - विमर्श को प्रभावित करेगी।

परमेश आचार्य की यह पुस्तक 'देशज शिक्षा' औपनिवेशिक विरासत और जातीय विकल्प' एक ओर जहां प्राक् ब्रिटिश काल में देशज शिक्षा की स्थिति की जांच पड़ताल करती है वहीं अंग्रेजी शिक्षा के निहितार्थों और स्वातंत्र्योत्तर काल में हुए शिक्षागत परिवर्तनों पर भी प्रकाश डालती है। वास्तव में इसमें संकलित 10 निबंध दिसंबर 1978 से मार्च 1997 के बीच लिखे गये और सुप्रसिद्ध वैचारिक अंग्रेजी पत्रिका 'इकॉनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली' में प्रकाशित हुए हैं। परमेश यह मानकर चलते हैं कि शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है। इसकी वस्तुस्थिति को जांचते समय हमें राष्ट्र, समाज, परिवार और विद्यालयी व्यवस्था पर भी नजर रखनी पड़ती है। लेकिन शिक्षा के ऐतिहासिक विकास क्रम पर हम जब नजर डालते हैं तो इस निष्कर्ष पर अनिवार्यतः पहुंचते हैं कि राष्ट्र और समाज का एक शक्तिशाली वर्ग अपने हितों को संरक्षित रखने के लिए शिक्षा का सदा इस्तेमाल करता रहता है और उस में वे परिवर्तन नहीं होने देता जो आम लोगों के लिये उपयोगी हों। शिक्षा के चरित्र निर्माण और प्रकृति निरूपण में उसकी भूमिका अहम रहती है।

पुस्तक का पहला लेख अंग्रेजों के आने से पहले यहां के देहाती समाज में प्रचलित शिक्षा की विशेषताओं और कमजोरियों पर रोशनी डालता है। तब की शिक्षा व्यवस्था समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों की अलग अलग तरह की आवश्यकताओं के अनुसार विविध रूपा थी। उच्चवर्गीय द्विज या भद्रलोक जहां संस्कृत पाठशालाओं या मदरसों में अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप ज्ञानात्मक शिक्षा प्राप्त करते थे, अन्य लोग देसी भाषा वाली श्रम केन्द्रित विद्या अलग तरह की पाठशालाओं में ग्रहण करते थे। यह शिक्षा कम खर्चीली, स्वाभाविक, लचीली किन्तु पूरी तरह व्यावहारिक थी। इस द्विविध शिक्षा प्रणाली के बावजूद

यहां की सामाजिक समरसता में कोई कमी नहीं आती थी क्योंकि इससे पैदा हो रहे भेदभाव को लोगों ने प्रकृतिजन्य मान लिया था।

लेकिन औपनिवेशिक काल में अंग्रेजों ने अपनी संस्कृति और सत्ता के प्रसार एवं सुरक्षा के लिये अपनी भाषा को माध्यम बनाया और भारतीय मध्यम वर्ग ने उनके इस सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को मजबूत बनाने में भरपूर सहयोग दिया। स्वाधीनता मिलने के बाद भी जब जब इस औपनिवेशिक विरासत से छुटकारा पा लेने की कोशिशें हुईं, तब तब 'रक्त और वर्ण से भारतीय किन्तु रूचि और चिन्तन से अंग्रेज' इस वर्ग ने इसका न केवल प्रबल प्रतिरोध ही किया बल्कि इसे क्रियान्वित भी नहीं होने दिया। 'बंगाली भद्रलोक और उन्नीसवीं सदी के बंगाल में शैक्षिक विकास' नामक लेख में बंगाली भद्रलोक ने औपनिवेशिक शिक्षा को संरक्षित रखने और प्रसारित करने में कितनी जबर्दस्त भूमिका निभाई, इसका सविस्तार विवरण दिया गया है।

चौथा लेख 'क्या मैकाले अभी भी हमारे गुरु हैं' मैकाले की उस दूरदर्शी कूटनीति पर से तो पर्दा उठाता ही है जिसे उसने इस देश में ब्रिटिश सत्ता की जड़ें जमाने और उसे युग-युग तक बनाये रखने के लिए लागू की थी, भारतीयों की उस मानसिकता पर भी व्यंग्य की करारी चोट मारता है जो आज भी मैकाले की दासता से मुक्त होने के लिए तैयार होती दिखाई नहीं देती। 1968 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति के निर्माताओं ने स्वीकार किया था कि अंग्रेजी माध्यम वाले पब्लिक स्कूल शहरी और ग्रामीण छात्रों की उपलब्धियों में असमानता पैदा कर रहे हैं। अंग्रेजी में बोलने और अंग्रेजी तौरतरीकों में कुशलता पा लेने मात्र से शहरी छात्र अपने आप को अधिक सभ्य और अधिक श्रेष्ठ समझने लगते हैं उनकी यही योग्यता दूसरों को पीछे धकेल इन्हें इंजीनियरिंग, चिकित्सा, तकनीकी एवं प्रशासन के महत्वपूर्ण पाठ्यक्रमों में तो प्रवेश दिला ही देती है, मोटे वेतन एवं

अन्य सुविधाओं वाली अधिकतर नौकरियां भी हथिया लेने के अवसर प्रदान कर देती है। आश्चर्य है इस तथ्य को रेखांकित करने के बावजूद यह नीति इन पर किसी तरह का अंकुश लगाने का कोई प्रस्ताव नहीं रखती। बल्कि 1986 की नई शिक्षा नीति तो बाकायदा एक ऐसा प्रावधान रखती है जिसके तहत देश के हर जिले में एक अंग्रेजी माध्यम वाला “नवोदय स्कूल” खोला जाता है। और अब तो अनेकों राज्य सरकारें कक्षा तीन से ही अंग्रेजी शिक्षण का प्रारंभ कर चुकी हैं।

यह निर्विवाद सत्य है कि भारत में अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत औपनिवेशिक हित बरकरार रखने के लिये की गई थी। इस शिक्षा के प्रमुख प्रवर्तक चार्ल्स ग्रांट, सी.ई. ट्रेवेल्यान और टी.बी. मैकाले थे। ग्रांट का पक्का विचार था कि अन्धेरे को मिटाने का सही उपाय प्रकाश है और यह प्रकाश शासकों की भाषा में पश्चिमी ज्ञान है। इसे पाकर लोग तर्कबद्ध जीवों के रूप में ड्यूटी देंगे और अब तक जिस मानसिक गुलामी में वे रहे हैं वह लुप्त होने लगेगी। जहां जहां हमारे सिद्धांत और हमारी भाषा लागू होगी वहां वहां हमारा वाणिज्य बढ़ेगा। ट्रेवेल्यान इससे भी आगे की बात करते हैं, अंग्रेजी शिक्षा कदम दर कदम सुधारों से वही उद्देश्य हासिल करेगी जो दूसरा कोई तरीका क्रांति के जरिये हासिल करता। ग्रांट और ट्रेवेल्यान के विचारों को ही मूर्त रूप देने का काम मैकाले ने किया।

मैकाले के मिशन को सफलता दिलाने में राजा राममोहन राय और दिरोजियो का योगदान भूलाया नहीं जा सकता। उन्होंने जो कुछ पश्चिमी था उसका सम्मान करना और जो कुछ पूर्वी था उसे नीची निगाह से देखना सिखाया। रवीन्द्रनाथ टैगोर के पिता देवेन्द्र नाथ टैगोर की ‘तत्व बोधिनी पाठशाला’ को विद्वान लोगों ने प्रथम राष्ट्रीय स्कूल घोषित किया है लेकिन इस स्कूल में भी बच्चों के लिये स्थापित शिक्षा सत्र में शुरू से ही अंग्रेजी की पढ़ाई होती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि अंग्रेजी सत्ता और पश्चिमी मानसिकता का प्रवर्तन बेशक मैकाले ने किया हो, उसे बनाये रखने में भारत के प्रबुद्ध भद्रजन का सहयोग अविस्मरणीय रहा है। मानव चरित्र की यह कैसी विडंबना है कि लॉर्ड कर्जन ने जब बंगाल को विभाजित किया और उसे एक स्थापित सत्य कहकर प्रचारित किया तो बंगाल के भद्रलोक ने उसका सामूहिक विरोध कर उसे

उलट दिया। लेकिन जब मैकाले ने अंग्रेजी शिक्षा लागू की और अंग्रेजी शिक्षित विशेष वर्ग की नई जाति तैयार करके समाज को विभाजित किया तो बंगाली भद्रलोक ने उसका स्वागत किया।

यह कहना पूरी तरह सच नहीं है कि अंग्रेजी भाषा और पश्चिमी ज्ञान के वर्चस्व को भारतीय शिक्षा से कम करने के प्रयास सरकारी तौर पर आजादी के बाद हुए ही नहीं। महात्मा गान्धी की बुनियादी तालीम जो कार्यात्मक गतिविधियों से शिक्षा को जोड़ती थी, को डा. जाकिर हुसैन, कै.जी.सैयदन तथा प्रो. हुमायूं कबीर आदि द्वारा काफी समय तक सफलतापूर्वक चलाया गया। बाद में बिहार के मुख्यमंत्री कर्पूरी ठाकुर ने और उत्तर प्रदेश के समाजवादी नेता मुलायम सिंह ने न केवल अंग्रेजी के महत्व को कम करने की बल्कि पब्लिक स्कूलों द्वारा फैलायी जा रही पश्चिमी संस्कृति के प्रसार पर अंकुश लगाने की कोशिश भी की। पर अंग्रेजी समर्थक मैकाले के मानस पुत्रों ने इन्हें अधिक समय तक चलने नहीं दिया। प्रस्तुत पुस्तक का आठवां अध्याय पश्चिमी बंगाल में प्राथमिक शिक्षा से अंग्रेजी के हटाये जाने और वापिस लाने की राजनीति पर विस्तार से प्रकाश डालता है।

पश्चिमी बंगाल की पाठ्यक्रम समिति ने 1980 के शुरू में प्राथमिक शिक्षा से अंग्रेजी हटाये जाने के बारे में अपने तर्क देते हुए कहा - (1) इस स्तर पर मातृभाषा के साथ अंग्रेजी को भी

अनिवार्यतः पढ़ाने से बच्चों पर अधिक बोझ पड़ता है। (2) इससे अन्य विषयों में योग्यता हासिल करने की गति मंद होती है। (3) अंग्रेजी का ज्ञान सभी बच्चों के लिये उपयोगी नहीं होता। (4) इससे शिक्षा के सार्वजनीकरण में बाधा आती है। इसलिये समिति की राय में माध्यमिक स्तर के प्रारंभ से अंग्रेजी की शिक्षा देना शुरू किया जाना चाहिये। लेकिन अंग्रेजी समर्थकों ने इन तर्कों का पूरी ताकत से खंडन करते हुए अपना पक्ष रखा (1) कुछ पश्चिमी भाषा विशेषज्ञों का मानना है कि शिशु चामत्कारिक रूप से भाषा ग्रहण करता है। (2) परिस्थिति के मुताबिक वह इस स्तर पर दो तीन या इससे भी अधिक भाषाएं सीख लेता है। (3) यह क्षमता दस वर्ष तक की आयु तक रहती है, इसलिये इसे अतिरिक्त भार बताना गलत है। (4) अन्य विषयों को सीखने की गति में इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। (5) सभी बच्चों को अंग्रेजी न पढ़ाने से उनका कैरियर

स्वाधीनता मिलने के बाद भी जब जब इस औपनिवेशिक विरासत से छुटकारा पा लेने की कोशिशें हुईं, तब तब ‘रक्त और वर्ण से भारतीय किन्तु रूचि और चिन्तन से अंग्रेज’ इस वर्ग ने इसका न केवल प्रबल प्रतिरोध ही किया बल्कि इसे क्रियान्वित भी नहीं होने दिया। ‘बंगाली भद्रलोक और उन्नीसवीं सदी के बंगाल में शैक्षिक विकास’ नामक लेख में बंगाली भद्रलोक ने औपनिवेशिक शिक्षा को संरक्षित रखने और प्रसारित करने में कितनी जबर्दस्त भूमिका निभाई, इसका सविस्तार विवरण दिया गया है

।

चौपट हो सकता है। शिक्षा प्रसार में इससे कोई बाधा नहीं आती। बल्कि उनका मानना तो यहां तक है कि अंग्रेजी एक अति विकसित भाषा है। उसमें देश-विदेश का ज्ञान विज्ञान संचित है। (6) इसके महत्व को कम करना लोगों के बीच ज्ञान के प्रसार को कम करना है। (7) प्राइमरी कक्षाओं से अंग्रेजी हटा देने से सरकारी स्कूलों के बच्चे पब्लिक स्कूलों के बच्चों से पिछड़ जायेंगे। इन पक्ष विपक्ष की दलीलों के पीछे किस तरह की राजनीति काम कर रही थी उसका जायजा लेना भी जरूरी है। सत्तासीन वाममोर्चे की मंशा यह थी कि यदि प्राथमिक स्तर पर सभी बच्चों की भर्ती और आगे की पढ़ाई को सफलतापूर्वक पूरा करवाना है तो इस स्तर का पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिये जो श्रमिक वर्ग के बच्चों के लिए सुगम हो और जीवनोपयोगी हो। ग्रामीण मेहनतकश जनता के लिये ऐसे पाठ्यक्रम का निर्माण किसान आन्दोलन और जन साक्षरता अभियान के बीच उचित संबंध से ही हो सकता है। शिक्षा के सार्वत्रीकरण के लिए जाहिर है अंग्रेजी को मातृभाषा के बराबर का दर्जा नहीं दिया जा सकता। लेकिन जैसा पहले भी तथा देश के अन्य प्रदेशों में भी होता रहा है इस तरह की कोशिशें सत्ता के इर्दगिर्द रहने वाले प्रभावशाली लोग विफल करते रहे हैं, इस बार भी वे सरकार की इस इच्छा को पूरा नहीं होने देते क्योंकि अंग्रेजी ही उनके लिए वह उपकरण है जो उन्हें अन्य लोगों से ऊपर बैठा सकता है और अच्छे अवसर मुलभ करवा सकता है।

‘शिक्षा : राजनैतिक और सामाजिक ढांचा’ में देहाती दुनिया के कमजोर तबके के लोगों की समस्याओं और आजादी के बाद पश्चिमी बंगाल में शिक्षा प्रसार में जो फैलाव हुआ है उसके सामाजिक और राजनैतिक निहितार्थों का खुलासा करने की कोशिश की गई है। ‘सार्वत्रिक प्राथमिक शिक्षा की समस्याएं’ में सरकारी, अर्धसरकारी और गैरसरकारी सूत्रों से प्राप्त विवरणों को आधार बनाकर उन कारणों को खोजने और आम लोगों के सामने रखने की कोशिश की गई है जिनके रहते संविधान में दी गई गारन्टी के बावजूद आज तक प्राथमिक शिक्षा सर्वसुलभ नहीं हो पाई है। विभिन्न एजेसियों से मिले आंकड़ों का विश्लेषण करते हुए परमेश उस सरकारी ‘फ्राड’ का पर्दाफाश करने से भी नहीं चूकते जिसे हमारा शासक वर्ग अपनी असफलता छिपाने के लिये काम में लाता है। ‘बंगाल में शिक्षा और सांप्रदायिक राजनीति’ में वे

अविभक्त बंगाल में शैक्षिक अवसरों में किये जाने वाले भेदभाव को सरकारी आंकड़ों के जरिये उजागर करते हुए बताते हैं कि तब वहां की कुल आबादी में 59% मुसलमान 44% हिन्दू और 2% अन्य लोग थे लेकिन 1931 के एक सर्वेक्षण के अनुसार प्रत्येक एक हजार हिन्दुओं में 260 पुरुष और 50 महिलाएं साक्षर थे जबकि मुसलमानों में यह संख्या क्रमशः 116 और 18 थी। उस समय पढ़ाई जाने वाली अधिकतर बांगला माध्यम वाली पाठ्य पुस्तकें और बांगला साहित्य हिन्दू संस्कृति से प्रभावित था और

उसे श्रेष्ठ साबित करता था इसका परिणाम यह हुआ कि एक संप्रदाय ने भाषा और संस्कृति के माध्यम से शिक्षा के अवसरों को अधिकाधिक हड़प रखा था तो दूसरा धर्मोन्माद फैलाने में तल्लीन था। “टैगोर और गांधी के शैक्षिक आदर्शों का तुलनात्मक अध्ययन” में इस औपनिवेशिक शिक्षा के खिलाफ इन दोनों के क्या विचार थे और कौन से विकल्प इन्होंने सुझाये थे, इस का विवेचन किया गया है। कितने दुखद आश्चर्य की बात है कि अंग्रेजी शिक्षा के विनाशकारी परिणामों को उजागर कर उसके समानान्तर देश के परिवेश और परम्परा को ध्यान में रखकर बनाई गई इनकी शिक्षा नीतियों से आजादी के बाद पुनः संशोधित-परिवर्तित होती राष्ट्रीय शिक्षा नीतियों में कभी कुछ भी लेने का प्रयास

नहीं किया गया। ऐसा क्यों हुआ? परमेश का इस बारे में स्पष्ट मत है कि सत्ता और व्यवस्था में बैठे हमारे अधिकतर नेता और अधिकारी गण उसी औपनिवेशिक शिक्षा के प्रोडक्ट थे। इसलिए उन्हे ऐसा कोई भी परिवर्तन स्वीकार्य नहीं था जो उनके वर्ग हित को चोट पहुंचाता हो।

इस प्रकार इन दस लेखों के संकलन से बनी यह पुस्तक न केवल शिक्षाविदों या शिक्षाकर्मियों बल्कि सर्वसाधारण को भी शिक्षा विषयक उन फैलाये जा रहे पाखण्डों से रूबरू करवाती है जो अहर्निश यह प्रचार करते हैं कि मौजूदा शिक्षा प्रणाली सामाजिक परिवर्तन का कारगर औजार है, कि इससे मनुष्य में राजनैतिक चेतना जाग्रत होती है, कि यह मनुष्य को अन्यायी व्यवस्था के विरुद्ध एकजुट हो संघर्ष करने की प्रेरणा देती है, आदि आदि। इसके विपरीत यह पुस्तक उन अदृश्य ताकतों को बेनकाब करती है जो जनहित की आड़ ले अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु शिक्षा नीति को अदलते बदलते रहते हैं। उनके द्वारा प्रवर्तित तथाकथित क्रान्तिकारी परिवर्तन परिवर्तन न होकर उनकी बदलती आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन मात्र होते हैं और कुछ नहीं।◆

देशज शिक्षा,
औपनिवेशिक विरासत
और जातीय विकल्प

लेखक - परमेश आचार्य

देशज शिक्षा,

औपनिवेशिक विरासत और जातीय विकल्प

लेखक - परमेश आचार्य

मूल्य - 275 रुपये

प्रकाशक- ग्रन्थशिल्पी (इंडिया) प्रा. लि. दिल्ली